

5. अनुकूलन की प्रक्रिया (Process of Adaptation)

प्रत्येक जीवित को अपने अस्तित्व की रक्षा करने तथा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपने पर्यावरण से अनुकूलन करना आवश्यक होता है। यह अनुकूलन तीन तरह का होता है—
 (अ) भौतिक अनुकूलन, (ब) जैविक अनुकूलन तथा (स) सामाजिक अनुकूलन। भौतिक अनुकूलन का तात्पर्य मनुष्य द्वारा प्राकृतिक दशाओं से किये जाने वाले अनुकूलन से है जिसमें व्यक्ति की इच्छा या अनिच्छा का कोई महत्व नहीं होता। उदाहरण के लिए, यदि हम तेज धूप और गर्मी में काम करेंगे तो त्वचा का रंग कुछ काला पड़ जाने से हमारी जीव-रचना प्रकृति से अपने आप इस तरह अनुकूलन का लेगी जिससे तेज गर्मी और धूप में काम करने से शरीर की कार्यक्षमता बनी रहे। जैविकीय अनुकूलन एक ऐसी दशा को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार व्यक्ति को अपनी जीव-रचना को इस तरह व्यवस्थित रखना आवश्यक है कि वह अस्तित्व के संघर्ष में सफल हो सके। जैविकीय दशाओं से अनुकूलन न कर सकने की दशा में प्रकृति मनुष्य का वरण कर लेती है। इसी को प्राकृतिक प्रवरण की प्रक्रिया (Process of Natural Selection) कहा जाता है। सामाजिक अनुकूलन का तात्पर्य व्यक्ति द्वारा अपने समाज के मूल्यों, नियमों, परम्पराओं तथा प्रथाओं से इस तरह अनुकूलन करना है जिससे वह समाज के प्रत्याशाओं के अनुसार व्यवहार कर सके। सामाजिक परिवर्तन के जैविकीय कारकों का सम्बन्ध मुख्य रूप से जैविकीय अनुकूलन की प्रक्रिया से है जिसे समझने के लिए यह आवश्यक है कि प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त को ध्यान करकर इसके प्रभाव का मूल्यांकन किया जाय।

डार्विन का प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त (DARWIN'S THEORY OF NATURAL SELECTION)

किसी समाज की जनसंख्या सम्बन्धी विशेषताओं में होने वाले परिवर्तन किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन की दशा पैदा करते हैं? इसे स्पष्ट करने के लिए जीववादियों ने प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि जीवित रहने के लिए प्रत्येक प्राणी को अपने भौतिक पर्यावरण से अनुकूलन करना आवश्यक है। इस प्रक्रिया में सफल न होने वाले व्यक्तियों का प्रकृति वरण कर लेती है अर्थात् उनकी मृत्यु हो जाती है और अनुकूलन में सफल व्यक्ति जीवित बच रहते हैं। प्रकृति से अनुकूलन करने की इस प्रक्रिया में परिवर्तन होने से ही सामाजिक परिवर्तन की स्थिति उत्पन्न होती है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आरम्भ में डार्विन (Darwin) ने पौरव पशुओं के अस्तित्व को स्पष्ट करने के लिए किया था। बाद में स्पेन्सर ने इसे सामाजिक प्राणियों अर्थात् मनुष्यों पर लागू करके एक समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की।

सामान्य रूप से प्रवरण का अर्थ 'चुनना' अथवा 'वरण' कर लेना है। जिस प्रकार हम अपनी पसंद के आधार पर कुछ वस्तुओं को चुन लेते हैं और दूसरों को छोड़ देते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी कुछ प्राणियों को चुन लेती है लेकिन व्यक्ति की पसंद के विपरीत प्रकृति उन प्राणियों को चुनती है जो अपने पर्यावरण से अनुकूलन करने में असफल रहते हैं। इस आधार पर जिस्बर्ट (P. Gisbert) ने डार्विन के विचार को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "प्रवरण सामान्य रूप से वह क्रिया अथवा प्रक्रिया है जिसके द्वारा कुछ नियमों अथवा उद्देश्यों के अनुसार कुछ वस्तुओं को रख लिया जाता है अथवा उन्हें विकसित किया जाता है, जबकि अन्य वस्तुओं को पृथक् कर दिया जाता है।"¹ प्रकृति का यह चुनाव मनमाना न होकर कुछ निश्चित नियमों पर आधारित होता है। इन नियमों से अभियोजन (Adjustment) न कर सकने की स्थिति में ही प्राकृतिक प्रवरण की क्रिया सक्रिय हो जाती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कुछ प्राणी अपने पर्यावरण से अनुकूलन क्यों नहीं कर पाते। इस प्रश्न का उत्तर 'प्रवरण की प्रक्रिया' तथा सामाजिक परिवर्तन से इसका सम्बन्ध स्पष्ट करके समझा जा सकता है। वास्तव में, जैसे-जैसे नयी पीढ़ियाँ पैदा होती जाती हैं, प्रत्येक पीढ़ी की वंशानुगत विशेषताओं में कुछ न कुछ परिवर्तन होता जाता है और कभी-कभी भौगोलिक विशेषताओं तथा पितृसूत्रों के संरचनाओं में अधिक परिवर्तन होने के कारण प्राणी की जैविकीय विशेषताएँ पुरानी पीढ़ियों की तुलना में बहुआणिक बदल जाती हैं। जो वाहकणु (Genes) एक पीढ़ी में प्रवल थे, हो सकता है, वर्तमान पीढ़ी में

1 "Selection in general is the act of process by which, in accordance with a given norm or end certain things are retained or promoted and other discarded."

सब गौण हो जायें। किसी पीढ़ी में होने वाले इस एकाएक परिवर्तन को हम 'उत्परिवर्तन की प्रक्रिया' (Process of Mutation) कहते हैं। यह सम्भव है कि वाहकणुओं में होने वाले इस एकाएक परिवर्तन से प्राणी अपने भौतिक पर्यावरण से पहले से भी अधिक अनुकूलन करने के योग्य हो जाये लेकिन प्रत्येक परिवर्तन प्राणी को इस योग्य नहीं बनाता। कभी-कभी उत्परिवर्तन के फलस्वरूप ऐसे दुर्बल और दोषपूर्ण प्राणियों का जन्म होता है जो प्रकृति से अनुकूलन करने में बिल्कुल असमर्थ होते हैं। यहाँ पर प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त उन पर लागू हो जाता है। प्रवरण की प्रक्रिया दो रूपों में अपना कार्य करती है—(अ) निसरन तथा (ब) विलयन। जो व्यक्ति प्रकृति से अनुकूलन कर लेते हैं, उनका अन्य प्राणियों से विलयन (Absorption) हो जाता है और अनुकूलन न कर सकने की स्थिति में प्रकृति उनका निरसन (Elimination) कर देती है।

प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त केवल भौतिक पर्यावरण से अनुकूलन न कर सकने की स्थिति में ही लागू नहीं होता बल्कि सीमित साधनों के अन्तर्गत अस्तित्व को बनाये रखने की क्षमता न होने पर भी यह नियम क्रियाशील हो जाता है। प्रत्येक प्राणी, विशेषकर छोटे जन्म जो हजारों की संख्या में अण्डे देते हैं, तब तक अपना भोजन प्राप्त नहीं कर सकते जब तक वे अस्तित्व के लिए होने वाले संघर्ष में विजयी न हो जायें। इस प्रकार प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त 'अस्तित्व के लिए संघर्ष में योग्यतम प्राणी के अतिजीवन' (survival of fittest in the struggle for existence) की धारणा से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है जिसे निम्नांकित रूप से समझा जा सकता है :

अस्तित्व के लिए संघर्ष की प्रक्रिया तीन रूपों में होती है—(अ) प्राणी का प्राकृतिक परिस्थितियों से संघर्ष, (ब) मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में होने वाला संघर्ष तथा (स) समान प्रकार के प्राणियों के बीच होने वाला पारस्परिक संघर्ष। सर्वप्रथम जो प्राणी अपनी प्राकृतिक दशाओं से अनुकूलन नहीं कर पाता, वह इस संघर्ष में हार जाता है और इसलिए प्रकृति उसका निरसन कर देती है। अधिक ठण्ड, अधिक गर्मी अथवा शारीरिक शक्ति में कमी होने के कारण होने वाली मृत्यु इसी प्रकार के निरसन के उदाहरण हैं। कुछ संघर्ष मनुष्य और अन्य प्राणियों के बीच होते हैं, जैसे—एक रोगी और रोग के कीटाणुओं के बीच होने वाला संघर्ष। यदि इस संघर्ष में मनुष्य विजयी होता है, तब प्रकृति रोग के कीटाणुओं का निरसन कर देती है और कीटाणुओं की विजय होने पर मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। तीसरी श्रेणी का संघर्ष समान प्रकार के जीवित प्राणियों के ही बीच होता है। उदाहरण के लिए, प्रत्येक मनुष्य जीवन के विभिन्न साधनों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और इस संघर्ष में वे ही विजयी होते हैं जो जीवित रहने के लिए सबसे अधिक योग्य होते हैं। यह संघर्ष पशुओं और पक्षियों में भी इसी प्रकार देखा जा सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि अस्तित्व के लिए संघर्ष की प्रक्रिया में हारने वाले प्राणी का प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त के अनुसार निरसन हो जाता है, जबकि इसमें विजयी होने वाले प्राणी को प्रकृति जीवित रहने के लिए छोड़ देती है।

यह ध्यान सदैव रखना चाहिए कि प्राकृतिक प्रवरण की प्रक्रिया केवल मृत्यु-दर द्वारा ही प्राणियों को प्रभावित करती है, इसका जन्म-दर पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि जन्म के बाद ही प्राणी के सामने अनुकूलन का प्रश्न उठता है, इससे पहले नहीं। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतिक प्रवरण की प्रक्रिया मृत्यु-दर के द्वारा उन प्राणियों का निरसन कर देती है जो अस्तित्व के लिए संघर्ष में अयोग्य सिद्ध होते हैं, जबकि जीवित रहने के लिए योग्यतम प्राणी को यह स्वतन्त्र छोड़ देती है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि डार्विन ने प्राकृतिक प्रवरण की प्रक्रिया के आधार पर ही उद्विकास का सिद्धान्त (Principle of Evolution), प्रस्तुत किया। डार्विन के अनुसार समाज अथवा प्राणियों के जीवन में होने वाले परिवर्तन उद्विकास के रूप में ही होता है तथा इसका अस्तित्व के लिए होने वाले संघर्ष से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। उन्होंने उद्विकास की तीन प्रमुख हैं तथा इसका अस्तित्व के लिए होने वाले संघर्ष से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है; विशेषताओं पर बल दिया—(1) उद्विकास अनेक स्तरों के द्वारा होने वाला एक क्रमिक परिवर्तन है; (2) यह परिवर्तन प्राणी की कुछ आन्तरिक विशेषताओं के कारण स्वयं होता रहता है अर्थात् यह जीव-रचना के अन्दर विद्यमान कुछ आन्तरिक शक्तियों का परिणाम होता है, किसी बाह्य कारक का परिणाम नहीं होता तथा (3) यह सरलता से जटिलता की ओर होने वाला परिवर्तन है।

इससे स्पष्ट होता है कि एक ओर जैविकीय दशाएँ उद्विकास के रूप में समाज में परिवर्तन लाती रहती हैं तो दूसरी ओर, जब कभी भी विभिन्न कारकों के प्रभाव से प्राकृतिक प्रवरण के प्रक्रिया में परिवर्तन होता है तो प्राणियों के जीवन में परिवर्तन होने लगता है।

जैविकीय कारकों के प्रभाव का मूल्यांकन

(EVALUATION OF THE IMPACT OF BIOLOGICAL FACTORS)

वर्तमान युग में सामाजिक परिवर्तन के एक कारक के रूप में जैविकीय दशाओं का प्रभाव तेंजी से कम होता जा रहा है। यही कारण है कि आज अनेक विद्वान् सामाजिक परिवर्तन की विवेचना में जैविकीय कारकों को कोई महत्व नहीं देते। निम्नांकित दशाओं के सन्दर्भ में जैविकीय कारकों तथा इनसे सम्बन्धित विचारों के दोषों को सरलता से समझा जा सकता है—

(1) जैविकीय कारक 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' तथा 'योग्यतम प्राणी के अतिजीवन' के अवधारणा पर आधारित हैं। वास्तव में, आज के जीवन में यह कह सकना बहुत कठिन है कि जीवित रहने के लिए कौन व्यक्ति सबसे अधिक योग्य है। प्राकृतिक प्रवरण के अनुसार प्रकृति दुर्बल प्राणियों का निरसन कर देती है, जबकि शक्तिशाली लोगों को जीवित रहने के लिए छोड़ देती है। इसके विपरीत, युद्ध की दशा में शक्तिशाली व्यक्तियों की मृत्यु सबसे अधिक संख्या में होती है। इससे स्पष्ट होता है कि सबसे अधिक योग्य प्राणी की अवधारणा बिल्कुल अस्पष्ट है।

(2) वर्तमान युग में मनुष्य प्रकृति का केवल एक दास नहीं है बल्कि अपने बुद्धि-बल और नये आविष्कारों के द्वारा उसने एक ऐसी संस्कृति को विकसित किया है जिसमें जीवित रहने के लिए प्रकृति से संघर्ष करना आवश्यक नहीं रहा है। मानव-समाज में होने वाले संघर्ष व्यक्तियों के बीच उतने नहीं होते जितने कि विभिन्न समूहों के बीच होते हैं। ऐसे संघर्षों में अक्सर वे व्यक्ति भी जीवित रहते हैं जिन्हें प्राकृतिक प्रवरण के अनुसार जीवित रहने के लिए योग्यतम प्राणी नहीं कहा जा सकता।

(3) ऑगबर्न (Ogburn) ने लिखा है कि मानव-समाज में मृत्यु-दर केवल प्राकृतिक दशाओं से ही प्रभावित नहीं होती। जैसे-जैसे चिकित्सा-विज्ञान में प्रगति होती जा रही है, मनुष्य प्रकृति से संघर्ष करने में अधिक सक्षम होता जा रहा है। इसी का परिणाम है कि आज मानव की जीवन-अवधि पहले की तुलना में अधिक हो गयी है।

(4) इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक प्रवरण की प्रक्रिया तभी लागू होती है जब जन्म-दर जीवित रहने वाले लोगों की तुलना में अधिक हो। केवल इसी दशा में जीवित रहने के लिए व्यक्तियों के बीच संघर्ष होता है। वास्तव में, ऐसा निष्कर्ष बिल्कुल काल्पनिक है। व्यावहारिक रूप से संघर्ष प्रत्येक समाज में सदैव चलता रहता है। जन्म-दर कम या अधिक होने से इन संघर्षों को दूर नहीं किया जा सकता।

(5) मैकाइवर तथा पेज के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की विवेचना में प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त बिल्कुल अनुपयुक्त है। आपके अनुसार प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त केवल तभी लागू हो सकता है जब मनुष्य का जीवन पूरी तरह प्राकृतिक दशाओं से प्रभावित हो। इसके विपरीत, आज दुर्गम और बीहड़ स्थान भी रहने योग्य बन गये हैं, ऊँचे पर्वतों और समुद्रों की गहराइयों के बीच भी मनुष्य का आना-जाना सम्भव है। विज्ञान की सहायता से अधिकांश प्राकृतिक रहस्यों को समझा जा चुका है। इस दशा में केवल प्राकृतिक अथवा जैविकीय दशाएँ ही मानव के अस्तित्व को प्रभावित नहीं करतीं।

(6) इस सिद्धान्त के अनुसार जीवित रहने के लिए योग्य अर्थात् शक्तिशाली और धनी लोगों में प्रजनन की दर अधिक होनी चाहिए, जबकि अस्वस्थ दशाओं, जैसे—गन्दी और मलिन बसियों में रहने वाले निर्धन परिवारों में जन्म-दर कम होनी चाहिए। वास्तविक दशा इससे बिल्कुल उल्टी है। धनी और शक्तिशाली लोगों में अस्वस्थ और दुर्बल लोगों की तुलना में जन्म-दर बहुत कम पायी जाती है। इसका तात्पर्य है कि प्राकृतिक प्रवरण के सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान जीवन में यह नहीं कहा जा सकता कि किसे 'योग्य' कहा जाय और किस 'अयोग्य' माना जाये।

(7) जैविकीय कारक यह बताते हैं कि किसी भी समाज में अधिक या कम मृत्यु-दर का कारण प्राकृतिक प्रवरण की प्रक्रिया है। आधुनिक युग में मृत्यु का कारण प्राकृतिक प्रवरण की प्रक्रिया नहीं बल्कि दोषपूर्ण सामाजिक दशाएँ हैं। उदाहरण के लिए, बढ़ता हुआ प्रदूषण, गन्दी बस्तियाँ, कारखानों में काम करने की असुरक्षित दशाएँ, सामाजिक शोषण, नशीले पदार्थों का सेवन तथा सामाजिक संकट आदि वे प्रमुख सामाजिक दशाएँ हैं जो मृत्यु-दर में वृद्धि करती हैं। इन दशाओं से बढ़ने वाली मृत्यु-दर को केवल सामाजिक आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है, जैविकीय दशाओं के आधार पर नहीं। इसी आधार पर मॉर्गन (Morgan) ने लिखा है कि “सभ्य मानव के जीवन में जैविकीय कारकों का प्रभाव बहुत तेजी से कम होता जा रहा है।”

मानव समाज पर विभिन्न जैविकीय कारकों के प्रभाव की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे मनुष्य का प्रकृति पर नियन्त्रण बढ़ता जा रहा है तथा चिकित्सा-विज्ञान का विकास होने से मानव की जीव-रचना से सम्बन्धित ज्ञान बढ़ता जा रहा है, सामाजिक परिवर्तन की विवेचना में जैविकीय कारकों का महत्व कम होता जा रहा है। वास्तव में, जीवित रहने अथवा अस्तित्व के संघर्ष के लिए आज प्रकृति से अनुकूलन करना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि समाज से अनुकूलन करना। जो व्यक्ति समाज से अनुकूलन नहीं कर पाते (जैसे—अपराधी या आतंकवादी बन जाते हैं), समाज उनका निरसन कर देता है। दूसरी ओर, समाज द्वारा उन लोगों का विलयन (Absorption) करके उन्हें आगे बढ़ने के अधिक-से-अधिक अवसर दिये जाते हैं जो सामाजिक दशाओं से अपना अनुकूलन कर लेते हैं। इस आधार पर मैकाइवर तथा पेज ने सामाजिक प्रवरण की अवधारणा (Concept of Social Selection) प्रस्तुत की। सामाजिक प्रवरण की अवधारणा का सम्बन्ध सभ्यता के विकास से है। जैसे-जैसे सभ्यता और संस्कृति का विकास होता जाता है, मानव जीवन पर प्राकृतिक और जैविकीय दशाओं का प्रभाव कम होकर सामाजिक दशाओं का प्रभाव बढ़ता जाता है। आज महामारियों को रोकने तथा अनुपजाऊ भूमि को भी खेती योग्य बनाने में मनुष्य ने सफलता प्राप्त कर ली है। एक दुर्बल और अपंग व्यक्ति भी समाज से अनुकूलन करके लम्बे समय तक जीवित रह सकता है। सामाजिक प्रवरण प्रत्यक्ष भी हो सकता है तथा अप्रत्यक्ष भी। परिवार नियोजन, विलम्ब-विवाह, हिंसा के विरुद्ध कानून तथा चिकित्सा सुविधाएँ जन्म-दर पर नियन्त्रण रखने के तरीके हैं जो प्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण के उदाहरण हैं। अप्रत्यक्ष सामाजिक प्रवरण का सम्बन्ध उन दशाओं से है जिनका उद्देश्य जन्म और मृत्यु-दर को प्रभावित करना नहीं होता लेकिन जिनके फलस्वरूप जन्म तथा मृत्यु-दर में अपने आप परिवर्तन होने लगता है। उदाहरण के लिए, शिक्षा तथा रहन-सहन के स्तर में होने वाली वृद्धि से अपने आप जन्म-दर तथा मृत्यु-दर दोनों में ही कमी होने लगती है। तात्पर्य यह है कि जैविकीय कारकों की तुलना में आज व्यक्ति को सामाजिक दशाओं से अनुकूलन करना अधिक आवश्यक है। यही कारण है कि सामाजिक परिवर्तन की विवेचना में जैविकीय कारकों को आज अधिक-से-अधिक एक अप्रत्यक्ष कारक के रूप में ही मान्यता दी जा सकती है।